.. Dnyaneshvari or Bhavarthadipika Chapter 15 ..
॥ ज्ञानेश्वरी भावार्थदीपिका अध्याय १५ ॥

॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥
अध्याय पंधरावा ।
पुरुषोत्तमयोगः ।

आतां हृदय हें आपुलें। चौफाळुनियां भलें। वरी बैसऊं पाउलें। श्रीगुरूंचीं ॥ १॥
ऐक्यभावाची अंजुळी। सर्वेंद्रिय कुड्मुळी। भरूनियां पुष्पांजुळी। अर्घ्यु देवों ॥ २॥
अनन्योदकें धुवट। वासना जे तन्निष्ठ। ते लागलेसे अबोट। चंदनाचें ॥ ३॥
प्रेमाचेनि भांगारें। निर्वाळूनि नूपरें। लेवऊं सुकुमारें। पदें तियें ॥ ४॥
घणावली आवडी। अव्यभिचारें चोखडी। तिये घालूं जोडी। आंगोळिया ॥ ५॥
आनंदामोदबहळ। सात्त्विकाचें मुकुळ। तें उमललें अष्टदळ। ठेऊं वरी ॥ ६॥
तेथे अहं हा धूप जाळूं। नाहं तेजें वोवाळूं। सामरस्यें पोटाळूं। निरंतर ॥ ७॥
माझी तनु आणि प्राण। इया दोनी पाउवा लेऊं श्रीगुरुचरण। करूं भोगमोक्ष निंबलोण। पायां तयां ॥ ८॥
इया श्रीगुरुचरणसेवा। हों पात्र तया दैवा। जे सकळार्थमेळावा। पाटु बांधे ॥ ९॥
ब्रह्मींचें विसवणेंवरी। उन्मेख लाहे उजरी। जें वाचेतें इयें करी। सुधासिंधु ॥ १०॥
पूर्णचंद्राचिया कोडी। वक्तृत्वा घापें कुरोंडी। तैसी आणी गोडी। अक्षरांतें ॥ ११॥
सूर्यें अधिष्ठिली प्राची। जगा राणीव दे प्रकाशाची। तैशी वाचा श्रोतयां ज्ञानाची। दिवाळी करी ॥ १२॥
नादब्रह्म खुजें। कैवल्यही तैसें न सजे। ऐसा बोलु देखिजे। जेणें दैवें ॥ १३॥
श्रवणसुखाच्या मांडवीं। विश्व भोगी माधवीं। तैसी सासिन्नली बरवी। वाचावल्ली ॥ १४॥
ठावो न पवता जयाचा। मनेंसी मुरडली वाचा। तो देवो होय शब्दाचा। चमत्कारु ॥ १५॥
जें ज्ञानासि न चोजवे। ध्यानासिही जें नागवे। तें अगोचर फावे। गोठीमार्जीं ॥ १६॥
येवढें एक सौभग। वळघे वाचेचें आंग। श्रीगुरुपादपद्मपराग। लाहे जैं कां ॥ १७॥
तरी बहु बोलूं काई। आजि तें आनीं ठाई। मातेंवाचूनि नाहीं। ज्ञानदेवो म्हणे ॥ १८॥
जे तान्हेनि मियां अपत्यें। आणि माझे गुरु एकलौतें। म्हणौनि कृपेंसि एकहातें। जालें तिये ॥ १९॥
पाहा पां भरोवरी आघवी। मेघ चातकांसी रिचवी। मजलागीं गोसावी। तैसें केलें ॥ २०॥
म्हणौनि रिकामें तोंड। करूं गेलें बडबड। कीं गीता ऐसें गोड। आतुडलें ॥ २१॥
होय अदृष्ट आपैतें। तैं वाळूचि रत्नें परते। उजू आयुष्य तैं मारितें। लोभु करी ॥ २२॥
आधणीं घातलिया हरळ। होती अमृताचे तांदुळ। जरी भुकेची राखे वेळ। श्रीजगन्नाथु ॥ २३॥
तयापरी श्रीगुरु। करिती जैं अंगीकारु। तैं होऊनि ठाके संसारु। मोक्षमय आघवा ॥ २४॥
पाहा पां श्रीनारायणें। तया पांडवांचें उणें। कीजेचि ना पुराणें। विश्ववंद्यें ? ॥ २५॥
तैसें श्रीनिवृत्तिराजें। अज्ञानपण हें माझें। आणिलें वोजें। ज्ञानाचिया ॥ २६॥
परी हें असो आतां। प्रेम रुळतसे बोलतां। कें गुरुगौरव वर्णितां। उन्मेष असे ? ॥ २७॥
आतां तेणेंचि पसायें। तुम्हां संताचे मी पायें। वोळगेन अभिप्रायें। गीतेचेनि ॥ २८॥

तरी तोचि प्रस्तुतीं। चौदाविया अध्यायाच्या अंतीं। निर्णयो कैवल्यपती। ऐसा केला ॥ २९॥
जें ज्ञान जयाच्या हातीं। तोचि समर्थु मुक्ति। जैसा शतमख संपत्ती। स्वर्गींचिये ॥ ३०॥
कां शत एक जन्मां। जो जन्मोनि ब्रह्मकर्मा। करी तोचि ब्रह्मा। आनु नोहे ॥ ३१॥
नाना सूर्याचा प्रकाशु। लाहे जेवीं डोळसु। तेवीं ज्ञानेंचि सौरसु। मोक्षाचा तो ॥ ३२॥
तरी तया ज्ञानालागीं। कवणा पां योग्यता आंगीं। हें पाहतां जगीं। देखिला एकु ॥ ३३॥
जें पाताळींचेंही निधान। दावील कीर अंजन। परी होआवे लोचन। पायाळाचे ॥ ३४॥
तैसें मोक्ष देईल ज्ञान। येथें कीर नाहीं आन। परी तेंचि थारे ऐसें मन। शुद्ध होआवें ॥ ३५॥
तरी विरक्तीवांचूनि कहीं। ज्ञानासि तगणेंचि नाहीं। हें विचारूनि ठाईं। ठेविलें देवें ॥ ३६॥
आतां विरक्तीची कवण परी। जे येऊनि मनातें वरी। हेंही सर्वज्ञें श्रीहरी। देखिलें असे ॥ ३७॥
जे विषें रांधिली रससोये। जैं जेवणारा ठाउवी होये। तैं तो ताटचि सांडूनि जाये। जयापरी ॥ ३८॥
तैसी संसारा या समस्ता। जाणिजे जैं अनित्यता। तैं वैराग्य दवडितां। पाठी लागे ॥ ३९॥
आतां अनित्यत्व या कैसें। तेंचि वृक्षाकारमिषें। सांगिजत असे विश्वेशें। पंचदशीं ॥ ४०॥
उपडिलें कवतिकें। झाड येरिमोहरा ठाके। तें वेगें जैसें सुके। तैसें हें नोहे ॥ ४१॥
यातें एकेपरी। रूपकाचिया कुसरी। सारीतसे वारी। संसाराची ॥ ४२॥
करूनि संसार वावो। स्वरूपीं अहंते ठावो। होआवया अध्यावो। पंधरावा हा ॥ ४३॥
आतां हेंचि आघवें। ग्रंथगर्भींचें चांगावें। उपलविजेल जीवें। आकर्णिजे ॥ ४४॥
तरी महानंद समुद्र। जो पूर्ण पूर्णीमा चंद्र। तो द्वारकेचा नरेंद्र। ऐसें म्हणे ॥ ४५॥
अगा पैं पंडुकुमरा। येतां स्वरूपाचिया घरा। करीतसे आडवारा। विश्वाभासु जो ॥ ४६॥
तो हा जगडंबरु। नोहे येथ संसारु। हा जाणिजे महातरु। थांवला असे ॥ ४७॥
परी येरां रुखांसारिखा। हा तळीं मूळें वरी शाखा। तैसा नोहे म्हणौनि लेखा। नयेचि कवणा ॥ ४८॥
आगी कां कुऱ्हाडी। होय रिगावा जरी बुडीं। तरी हो कां भलतेवढी। वरिचील वाढी ॥ ४९॥
जे तुटलिया मूळापाशीं। उलंडेल कां शाखांशीं। परी तैशी गोठी कायशी। हा सोपा नव्हे ॥ ५०॥
अर्जुना हें कवतिक। सांगतां असे अलौकिक। जे वाढी अधोमुख। रुखा यया ॥ ५१॥
जैसा भानू उंची नेणों कें। रश्मिजाळ तळीं फांके। संसार हें कावरुखें। झाड तैसें ॥ ५२॥
आणि आथी नाथी तितुकें। रुंधलें असे येणेंचि एकें। कल्पांतींचेनि उदकें। व्योम जैसें ॥ ५३॥
कां रवीच्या अस्तमानीं। आंधारेनि कोंदे रजनी। तैसा हाचि गगनीं। मांडला असे ॥ ५४॥
यया फळ ना चुंबितां। फूल ना तुरंबितां। जें कांहीं पंडुसुता। तें रुखुचि हा ॥ ५५॥
हा ऊर्ध्वमूळ आहे। परी उन्मूळिला नोहे। येणेंचि हा होये। शाड्वळु गा ॥ ५६॥
आणि ऊर्ध्वमूळ ऐसें। निगदिलें कीर असे। परी अधींही असोसें। मूळें यया ॥ ५७॥
प्रबळला चौमेरी। पिंपळा कां वडाचिया परी। जे पारंबियांमाझारीं। डहाळिया असती ॥ ५८॥
तेवींचि गा धनंजया। संसारतरु यया। अधींचि आथी खांदिया। हेंही नाहीं ॥ ५९॥
तरी ऊर्ध्वाहीकडे। शाखांचे मांदोडे। दिसतातिं अपाडें। सासिन्नलें ॥ ६०॥
जालें गगनचि पां वेलिये। कां वारा मांडला रुखाचेनि आयें। नाना अवस्थात्रयें। उदयला असे ॥ ६१॥
ऐसा हा एकु। विश्वाकार विटंकु। उदयला जाण रुखु। ऊर्ध्वमूळु ॥ ६२॥
आतां ऊर्ध्व या कवण। येथें मूळ तें किं लक्षण। कां अधोमुखपण। शाखा कैसिया ॥ ६३॥
अथवा द्रुमा यया। अधीं जिया मूळिया। तिया कोण कैसिया। ऊर्ध्व शाखा ॥ ६४॥

आणि अश्वत्थु हा ऐसी। प्रसिद्धी कायसी। आत्मविदविलासीं। निर्णयो केला ॥ ६५ ॥
हें आघवेंचि बरवें। तुझिये प्रतीतीसि फावे। तैसेनि सांगों सोलिवें। विन्यासें गा ॥ ६६ ॥
परी ऐकें गा सुभगा। हा प्रसंगु असे तुजचि जोगा। कानचि करीं हो सर्वांगा। हियें आथिलिया ॥ ६७ ॥
ऐसें प्रेमरसें सुरफुरें। बोलिलें जंव यादववीरें। तंव अवधान अर्जुनाकारें। मूर्त जालें ॥ ६८ ॥
देव निरूपिती तें थेंकुलें। येवढें श्रोतेपण फांकलें। जैसे आकाशा खेंव पसरिलें। दाही दिशीं ॥ ६९ ॥
श्रीकृष्णोक्तिसागरा। हा अगस्तीचि दुसरा। म्हनौनि घोंटु भरों पाहे एकसरा। अवघेयाचा ॥ ७० ॥
ऐसी सोय सांडूनि खवळिली। आवडी अर्जुनीं देवें देखिली। तेथ जालेनि सुखें केली। कुरवंडी तया ॥ ७१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।
ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

मग म्हणे धनंजया। तें ऊर्ध्व गा तरू यया। येणें रुखेंचि कां जया। ऊर्ध्वता गमे ॥ ७२ ॥
एऱ्हवीं मध्योर्ध्व अध। हे नाहीं जेथ भेद। अद्वयासीं एकवद। जया ठायीं ॥ ७३ ॥
जो नाइकिजतां नादु। जो असौरभ्य मकरंदु। जो आंगाथिला आनंदु। सुरतेविण ॥ ७४ ॥
जया जें आऱ्हां परौतें। जया जें पुढें मागौतें। दिसतेविण दिसतें। अदृश्य जें ॥ ७५ ॥
उपाधीचा दुसरा। घालितां वोपसरा। नामरूपाचा संसारा। होय जयातें ॥ ७६ ॥
ज्ञातृज्ञेयाविहीन। नुसधेंचि जें ज्ञान। सुखा भरलें गगन। गाळींव जें ॥ ७७ ॥
जें कार्य ना कारण। जया दुजें ना एकपण। आपणयां जें जाण। आपणचि ॥ ७८ ॥
ऐसें वस्तु जें साचें। तें ऊर्ध्व गा यया तरूचें। तेथ आर घेणें मूळाचें। तें ऐसें असे ॥ ७९ ॥
तरी माया ऐसी ख्याती। नसतीच यया आथी। कां वांझेची संतती। वानणें जैशी ॥ ८० ॥
तैशी सत् ना असत् होये। जे विचाराचें नाम न साहे। ऐसेया परीची आहे। अनादि म्हणती ॥ ८१ ॥
जे नानातत्त्वांची मांदुस। जे जगदभ्राचें आकाश। जे आकारजाताचें दुस। घडी केलें ॥ ८२ ॥
जे भवद्रुमबीजिका। जे प्रपंचचित्र भूमिका। विपरीत ज्ञानदीपिका। सांचली जे ॥ ८३ ॥
ते माया वस्तूच्या ठायीं। असे जैसेनि नाहीं। मग वस्तुप्रभाचि पाही। प्रगट होये ॥ ८४ ॥
जेव्हां आपणया आली निद। करी आपणपें जेवीं मुग्ध। कां काजळी आणी मंद। प्रभा दीपीं ॥ ८५ ॥
स्वप्नीं प्रियापुढें तरुणांगी। निदेली चेववूनि वेगीं। आलिंगिलेनिवीण आलिंगी। सकामु करी ॥ ८६ ॥
तैसी स्वरूपीं जाली माया। आणी स्वरूप नेणे धनंजया। तेंचि रुखा यया। मूळ पहिलें ॥ ८७ ॥
वस्तूसी आपुला जो अबोधु। तो ऊर्ध्वीं आठुळैजे कंदु। वेदांतीं हाचि प्रसिद्धु। बीजभावो ॥ ८८ ॥
घन अज्ञान सुषुप्ती। तो बीजांकुरभावो म्हणती। येर स्वप्न हन जागृती। हा फळभावो तियेचा ॥ ८९ ॥
ऐसी यया वेदांतीं। निरूपणभाषाप्रतीती। परी तें असो प्रस्तुतीं। अज्ञान मूळ ॥ ९० ॥
तें ऊर्ध्व आत्मा निर्मळें। अधोर्ध्व सूचिती मूळें। बळिया बांधोनि आळें। मायायोगाचें ॥ ९१ ॥
मग आधिलीं सदेहांतरें। उठती जियें अपारें। ते चौपासि घेऊनि आगारें। खोलावती ॥ ९२ ॥
ऐसें भवद्रुमाचें मूळ। हें ऊर्ध्वीं करी बळ। मग आणियांचें बेंचळ। अधीं दावी ॥ ९३ ॥
तेथ् चिद्‌वृत्ति पहिलें। महत्तत्त्व उमललें। तें पान वाल्हेंदुल्हें। एक निघे ॥ ९४ ॥
मग सत्त्वरजतमात्मकु। त्रिविध अहंकारु जो एकु। तो तिवणा अधोमुखु। डिरु फुटे ॥ ९५ ॥

तो बुद्धीची घेऊनि आगारी। भेदाची वृद्धि करी। तेथे मनाचे डाळ धरी। साजेपणें ॥ ९६॥
ऐसा मूळाचिया गाढिका। विकल्परस कोंवळिका। चित्तचतुष्टय डाहाळिका। कोंभैजे तो ॥ ९७॥
मग आकाश वायु द्योतक। आप पृथ्वी हें पांच फोंक। महाभूतांचें सरोख। सरळे होती ॥ ९८॥
तैसीं श्रोत्रादि तन्मात्रें। तियें अंगवसां गर्भपत्रें। लुळलुळितें विचित्रें। उमळती गा ॥ ९९॥
तेथ शब्दांकुर वरिपडी। श्रोत्रा वाढी देव्हडी। होता करित कांडीं। आकांक्षेचीं ॥ १००॥
अंगत्वचेचे वेलपल्लव। स्पर्शांकुरीं घेती धांव। तेथ बांबळ पडे अभिनव। विकारांचें ॥ १०१॥
पाठीं रूपपत्र पालोवेलीं। चक्षु लांब तें कांडें घाली। ते वेळीं व्यामोहता भली। पाहाळीं जाय ॥ १०२॥
आणि रसाचें आंगवसें। वाढतां वेगें बहुवसें। जिव्हे आर्तीची असोसें। निघती बेंचें ॥ १०३॥
तैसेंचि कोंभैलेनि गंधें। घ्राणाची डिरी थांबु बांधे। तेथ तळु घे स्वानंदें। प्रलोभाचा ॥ १०४॥
एवं महदहंबुद्धि। मनें महाभूतसमृद्धी। इया संसाराचिया अवधी। सासनिजे ॥ १०५॥
किंबहुना इहीं आठें। आंगीं हा अधिक फांटे। परी शिंपीचियेवढें उमटे। रुपें जेवीं ॥ १०६॥
कां समुद्राचेनि पैसारें। वरी तरंगता आसारे। तैसें ब्रह्मचि होय वृक्षाकारें। अज्ञानमूळ ॥ १०७॥
आतां याचा हाचि विस्तारु। हाचि यया पैसारु। जैसा आपणपें स्वप्नीं परिवारु। येकाकिया ॥ १०८॥
परी तें असो हें ऐसें। कावरें झाड उससे। यया महदादि आरवसें। अधोशाखा ॥ १०९॥
आणि अश्वत्थु ऐसें ययातें। म्हणती जे जाणते। तेंही परिस हो येथें। सांगिजैल ॥ ११०॥
तरी श्वः म्हणिजे उखा। तोंवरी एकसारिखा। नाहीं निर्वाहो यया रुखा। प्रपंचरूपा ॥ १११॥
जैसा न लोटतां क्षणु। मेघु होय नानावर्णु। कां विजु नसे संपूर्णु। निमेषभरी ॥ ११२॥
ना कांपतया पद्मदळा। वरीलिया बैसका नाहीं जळा। कां चित्त जैसें व्याकुळा। माणुसाचें ॥ ११३॥
तैसीचि ययाची स्थिती। नासत जाय क्षणक्षणाप्रती। म्हणौनि ययातें म्हणती। अश्वत्थु हा ॥ ११४॥
आणि अश्वत्थु येणें नांवें। पिंपळु म्हणती स्वभावें। परी तो अभिप्राय नव्हे। श्रीहरीचा ॥ ११५॥
एऱ्हवीं पिंपळु म्हणतां विखीं। मियां गति देखिली असे निकी। परी तें असो काय लौकिकीं। हेतु काज ॥ ११६॥
म्हणौनि हा प्रस्तुतु। अलौकिकु परियेसा ग्रंथु। तरी क्षणिकत्वेंचि अश्वत्थु। बोलिजे हा ॥ ११७॥
आणीकुही येकु थोरु। यया अव्ययत्वाचा डगरु। आथी परी तो भीतरु। ऐसा आहे ॥ ११८॥
जैसा मेघांचेनि तोंडें। सिंधु एके आंगें काढे। आणि नदी येरीकडे। भरितीच असती ॥ ११९॥
तेथ वोहटे ना चढे। ऐसा परिपूर्णुचि आवडे। परी ते फुली जंव नुघडे। मेघानदींची ॥ १२०॥
ऐसें या रुखाचें होणें जाणें। न तर्के होतेनि वहिलेपणें। म्हणौनि ययातें लोकु म्हणे। अव्ययु हा ॥ १२१॥
एऱ्हवीं दानशीळु पुरुषु। वेंचकपणेंचि संचकु। तैसा व्ययेंचि हा रुखु। अव्ययो गमे ॥ १२२॥
जातां वेगें बहुवसें। न वचे कां भूमीं रुतलें असे। रथाचें चक्र दिसे। जियापरी ॥ १२३॥
तैसें काळातिक्रमें जे वाळे। ते भूतशाखा जेथ गळे। तेथ कोडीवरी उमाळे। उठती आणिक ॥ १२४॥
परी येकी केधवां गेली। शाखाकोडी केधवां जाली। हें नेणवे जेवीं उमललीं। आषाढअभ्रें ॥ १२५॥
महाकल्पाच्या शेवटीं। उदेलिया उमळती सृष्टी। तैसेंचि आणिखीचें दांग उठी। सासिन्नलें ॥ १२६॥
संहारवातें प्रचंडें। पडती प्रळयांतींचीं सालडें। तंव कल्पादीचीं जुंबाडें। पाल्हेजती ॥ १२७॥
रिगे मन्वंतर मनूपुढें। वंशावरी वंशांचे मांडे। जैसी इक्षुवृद्धी कांडेंनकांडें। जिंके जेवीं ॥ १२८॥
कलियुगांतीं कोरडीं। चहुं युगांची सालें सांडी। तंव कृतयुगाची पेली देव्हडी। पडे पुढती ॥ १२९॥
वर्ततें वर्ष जाये। तें पुढिला मुळहारी होये। जैसा दिवसु जात कीं येत आहे। हें चोजवेना ॥ १३०॥
जैशा वारियाच्या झुळकां। सांदा ठाउवा नव्हे देखा। तैसिया उठती पडती शाखा। नेणों किती ॥ १३१॥

एकी देहाची डिरी तुटे। तंव देहांकुरीं बहुवी फुटे। ऐसेनि भवतरु हा वाटे। अव्ययो ऐसा ॥ १३२॥
जैसें वाहतें पाणी जाय वेगें। तैसेंचि आणिक मिळे मागें। येथ असंतचि असिजे जगें। मानिजे संत ॥ १३३॥
कां लागोनि डोळां उघडे। तंव कोडीवरी घडे मोडे। नेणतया तरंगु आवडे। नित्यु ऐसा ॥ १३४॥
वायसा एकें बुबुळें दोहींकडे। डोळा चाळीतां अपाडें। दोन्ही आथी ऐसा पडे। भ्रमु जेवीं जगा ॥ १३५॥
पैं भिंगोरी निधिये पडली। ते गमे भूमीसी जैसी जडली। ऐसा वेगातिशयो भुली। हेतु होय ॥ १३६॥
हें बहु असो झडती। आंधारें भोवंडितां कोलती। ते दिसे जैसी आयती। चक्राकार ॥ १३७॥
हा संसारवृक्षु तैसा। मोडतु मांडतु सहसा। न देखोनि लोकु पिसा। अव्ययो मानी ॥ १३८॥
परि ययाचा वेगु देखे। जो हा क्षणिक ऐसा वोळखे। जाणे कोडिवेळां निमिखें। होत जात ॥ १३९॥
नाहीं अज्ञानावांचूनि मूळ। ययाचें असिलेंपण टवाळ। ऐसें झाड सिनसाळ। देखिलें जेणें ॥ १४०॥
तयातें गा पंडुसुता। मी सर्वज्ञुही म्हणें जाणता। पैं वाग्ब्रह्म सिद्धांता। वंद्यु तोची ॥ १४१॥
योगजाताचें जोडलें। तया एकासीचि उपेगा गेलें। किंबहुना जियालें। ज्ञानही त्याचेनी ॥ १४२॥
हें असो बहु बोलणें। वानिजैल तो कवणें। जो भवरुखु जाणें। उखि ऐसा ॥ १४३॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २॥

मग ययाचि प्रपंचरूपा। अधोशाखिया पादपा। डाहाळिया जाती उमपा। ऊर्ध्वाही उजू ॥ १४४॥
आणि अधीं फांकली डाळें। तिये होती मूळें। तयाही तळीं पघळे। वेल पालवु ॥ १४५॥
ऐसें जें आम्हीं। म्हणितलें उपक्रमीं। तेंही परिसें सुगमीं। बोलीं सांगों ॥ १४६॥
तरी बद्धमूळ अज्ञानें। महदादिकीं सासिनें। वेदांचीं थोरवनें। घेऊनियां ॥ १४७॥
परी आधीं तंव स्वेदज। जारज उद्भिज अंडज। हे बुडौनि महाभुज। उठती चारी ॥ १४८॥
यया एकैकाचेनि आंगवटें। चौऱ्यांशीं लक्षधा फुटे। ते वेळीं जीवशाखीं फांटे। सैंधचि होती ॥ १४९॥
प्रसवती शाखा सरळिया। नानासृष्टि डाहाळिया। आड फुटती माळिया। जातिचिया ॥ १५०॥
स्त्री पुरुष नपुंसकें। हे व्यक्तिभेदांचे टके। आंदोळती आंगिकें। विकारभारें ॥ १५१॥
जैसा वर्षाकाळु गगनीं। पाल्हेजे नवघनीं। तैसें आकारजात अज्ञानीं। वेलीं जाय ॥ १५२॥
मग शाखांचेनि आंगभारें। लवोनि गुंफिती परस्परें। गुणक्षोभाचे वारे। उदयजती ॥ १५३॥
तेथ तेणें अचाटें। गुणांचेनि झडझडाटें। तिहीं ठायीं हा फांटे। ऊर्ध्वमूळ ॥ १५४॥
ऐसा रजाचिया झुळुका। झडाडितां आगळिका। मनुष्यजाती शाखा। थोरावती ॥ १५५॥
तिया ऊर्ध्वी ना अधीं। माझारींचि कोंदाकोंदी। आड फुटती खांदी। चतुर्वर्णांच्या ॥ १५६॥
तेथ विधिनिषेध सपल्लव। वेदवाक्यांचें अभिनव। पालव डोलती बरव। नीच नवे ॥ १५७॥
अर्थु कामु पसरे। अग्रवनें घेती थारे। तेथ क्षणिकें पदांतरें। इहभोगाचीं ॥ १५८॥
तेथ प्रवृत्तीचेनि वृद्धिलोभें। खांकरेजती शुभाशुभें। नानाकर्मांचे खांबे। नेणों किती ॥ १५९॥
तेवींचि भोगक्षीणें मागिलें। पडती देहांतींचीं बुडसळें। तंव पुढां वाढी पेले। नवेया देहांची ॥ १६०॥
आणि शब्दादिक सुहावे। सहज रंगें हवावे। विषयपल्लव नवे। नीत्य होती ॥ १६१॥
ऐसे रजोवातें प्रचंडें। मनुष्यशाखांचे मांदोडे। वाढती तो एथ रुढे। मनुष्यलोकु ॥ १६२॥
तैसाचि तो रजाचा वारा। नावेक धरी वोसरा। मग वाजों लागे घोरा। तमाचा तो ॥ १६३॥

तेधवां याचिया मनुष्यशाखा। नीच वासना अधीं देखा। पल्हेजती डाहाळिका। कुकर्माचिया ॥ १६४ ॥
अप्रवृत्तींचे खणुवाळे। कोंभ निघती सरळे। घेत पान पालव डाळे। प्रमादाचीं ॥ १६५ ॥
बोलती निषेधनियमें। जिया ऋचा यजुःसामें। तो पाला तया घुमें। टकेयावरी ॥ १६६ ॥
प्रतिपादिती अभिचार। आगम जे परमार। तिहीं पानीं घेती प्रसर। वासना वेली ॥ १६७ ॥
तंव तंव होतीं थोराडें। अकर्मांचीं तळबुडें। आणि जन्मशाखा पुढें पुढें। घेती धांव ॥ १६८ ॥
तेथ चांडाळादि निकृष्टा। दोषजातीचा थोर फांटा। जाळ पडे कर्मभ्रष्टां। भुलोनियां ॥ १६९ ॥
पशु पक्षी सूकर। व्याघ्र वृश्चिक विखार। हे आडशाखा प्रकार। पैसु घेती ॥ १७० ॥
परी ऐशा शाखा पांडवा। सर्वांगींहि नित्य नवा। निरयभोग यावा। फळाचा तो ॥ १७१ ॥
आणि हिंसाविषयपुढारी। कुकर्मसंगें धुर धुरी। जन्मवरी आगारी। वाढतीचि असे ॥ १७२ ॥
ऐसे होती तरु तृण। लोह लोष्ट पाषाण। इया खांदिया तेवीं जाण। फळेंही हेंची ॥ १७३ ॥
अर्जुना गा अवधारीं। मनुष्यालागोनि इया परी। वृद्धि स्थावरांतवरी। अधोशाखांची ॥ १७४ ॥
म्हणौनि जीं मनुष्यडाळें। तियें जाणावीं अधींचि मूळें। जे एथूनि हा पघळे। संसारतरु ॥ १७५ ॥
एऱ्हवीं ऊर्ध्वींचें पार्था। मुद्दल मूळ पाहतां। अधींचिया मध्यस्था। शाखा इया ॥ १७६ ॥
परी तामसी सात्त्विकी। सुकृतदुष्कृतात्मकी। विरुढती या शाखीं। अधोर्ध्वींचिया ॥ १७७ ॥
आणि वेदत्रयाचिया पाना। नये अन्यत्र लागों अर्जुना। जे मनुष्यावांचूनि विधाना। विषय नाहीं ॥ १७८ ॥
म्हणौनि तनु मानुषा। इया ऊर्ध्वमूळौनि जरी शाखा। तरी कर्मवृद्धीसि देखा। इयेंचि मूळें ॥ १७९ ॥
आणि आनीं तरी झाडीं। शाखा वाढतां मुळें गाढीं। मूळ गाढें तंव वाढी। पैस आथी ॥ १८० ॥
तैसेंचि इया शरीरा। कर्म तंव देहा संसारा। आणि देह तंव व्यापारा। ना म्हणोंचि नये ॥ १८१ ॥
म्हणौनि देहें मानुषें। इयें मुळें होती न चुके। ऐसें जगज्जनकें। बोलिलें तेणें ॥ १८२ ॥
मग तमाचें तें दारुण। स्थिरावलेया वाउधाण। सत्त्वाची सुटे सत्राण। वाहुटळी ॥ १८३ ॥
तैं याचि मनुष्याकारा। मुळीं सुवासना निघती आरा। घेऊनि फुटती कोंबारा। सुकृतांकुरीं ॥ १८४ ॥
उकलतेनि उन्मेखें। प्रज्ञाकुशलतेंची तिखें। डिरिया निघती निमिखें। बाबळैजुनी ॥ १८५ ॥
मतीचे सोट वांवे। घालिती स्फूर्तीचेनि थांवें। बुद्धि प्रकाश घे धांवे। विवेकावरी ॥ १८६ ॥
तेथ मेधारसें सगर्भ। अस्थापत्रीं सबोंब। सरळ निघती कोंभ। सद्वृत्तीचे ॥ १८७ ॥
सदाचाराचिया सहसा। टका उठती बहुवसा। घुमघुमिति घोषा। वेदपद्याच्या ॥ १८८ ॥
शिष्टागमविधानें। विविधयागवितानें। इये पानावरी पानें। पालेजती ॥ १८९ ॥
ऐशा यमदमीं घोंसाळिया। उठती तपाचिया डाहाळिया। देती वैराग्यशाखा कोंवळिया। वेल्हाळपणें ॥ १९० ॥
विशिष्टां व्रतांचे फोक। धीराच्या अणगटी तिख। जन्मवेगें ऊर्ध्वमुख। उंचावती ॥ १९१ ॥
माजीं वेदांचा पाला दाट। तो करी सुविद्येचा झडझडाट। जंव वाजे अचाट। सत्त्वानिळु तो ॥ १९२ ॥
तेथ धर्मडाळ बाहाळी। दिसती जन्मशाखा सरळी। तिया आड फुटती फळीं। स्वर्गादिकीं ॥ १९३ ॥
पुढां उपरति रागें लोहिवी। धर्ममोक्षाची शाखा पालवी। पाल्हाजत नित्य नवी। वाढतीचि असे ॥ १९४ ॥
पैं रविचंद्रादि ग्रहवर। पितृ ऋषी विद्याधर। हे आडशाखा प्रकार। पैसु घेती ॥ १९५ ॥
याहीपासून उंचवडें। गुढले फळाचेनि बुडें। इंद्रादिक ते मांदोडे। थोर शाखांचे ॥ १९६ ॥
मग तयांही उपरी डाहाळिया। तपोज्ञानीं उंचावलिया। मरीचि कश्यपादि इया। उपरी शाखा ॥ १९७ ॥
एवं माळोवाळी उत्तरोत्तरु। ऊर्ध्वशाखांचा पैसारु। बुडीं साना अग्रीं थोरु। फळाढ्यपणें ॥ १९८ ॥
वरी उपरिशाखाही पाठीं। येती फळभार जे किरीटी। ते ब्रह्मेशांत अणगटीं। कोंभ निघती ॥ १९९ ॥

फळाचेनि वोझेपणें। ऊर्ध्वीं वोवांडें दुणें। जंव माघौतें बैसणें। मूळींचि होय ॥ २००॥
प्राकृताही तरी रुखा। जें फळें दाटलीं होय शाखा। ते वोवांडली देखा। बुडासि ये ॥ २०१॥
तैसें जेथूनि हा आघवा। संसारतरूचा उठावा। तियें मूळीं टेंकती पांडवा। वाढतेनि ज्ञानें ॥ २०२॥
म्हणौनि ब्रह्मेशानापरौतें। वाढणें नाहीं जीवातें। तेथूनि मग वरौतें। ब्रह्मचि कीं ॥ २०३॥
परी हें असो ऐसें। ब्रह्मादिक ते आंगवसें। ऊर्ध्वमुळासरिसें। न तुकती गा ॥ २०४॥
आणीकही शाखा उपरता। जिया सनकादिक नामें विख्याता। तिया फळीं मूळीं नाडळता। भरलिया ब्रह्मीं ॥ २०५॥
ऐसी मनुष्यापासूनि जाणावी। ऊर्ध्वीं ब्रह्मादिशेष पालवी। शाखांची वाढी बरवी। उंचावे पैं ॥ २०६॥
पार्था ऊर्ध्वींचिया ब्रह्मादि। मनुष्यत्वचि होय आदि। म्हणौनि इयें अधीं। म्हणितलीं मूळें ॥ २०७॥
एवं तुज अलौकिकु। हा अधोर्ध्वशाखु। सांगितला भवरुखु। ऊर्ध्वमूळु ॥ २०८॥
आणि अधींचीं हीं मूळें। उपपत्ती परिसविली सविवळें। आतां परिस उन्मूळें। कैसेनि हा ॥ २०९॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३॥

परी तुझ्या हन पोटीं। ऐसें गमेल किरीटी। जे एवढें झाड उत्पाटी। ऐसें कायि असे ? ॥ २१०॥
कें ब्रह्मयाच्या शेवटवरी। ऊर्ध्व शाखांची थोरी। आणि मूळ तंव निराकारीं। ऊर्ध्वीं असे ॥ २११॥
हा स्थावराही तळीं। फांकत असे अधींच्या डाळीं। माजीं धांवतसे दुजा मूळीं। मनुष्यरूपीं ॥ २१२॥
ऐसा गाढा आणि अफाटु। आतां कोण करी यया शेवटु। तरी झणीं हा हळुवटु। धरिसी भावो ॥ २१३॥
परी हा उन्मूळावया दोषें। येथ सायासचि कायिसे। काय बाळा बागुल देशें। दवडावा आहे ? ॥ २१४॥
गंधर्वदुर्ग कायी पाडावे। काय शशविषाण मोडावें। होआवें मग तोडावें। खपुष्प कीं ? ॥ २१५॥
तैसा संसारु हा वीरा। रुख नाहीं साचोकारा। मा उन्मूळणीं दरारा। कायिसा तरी ? ॥ २१६॥
आम्हीं सांगितली जे परी। मूळडाळांची उजरी। ते वांझेचीं घरभरी। लेकुरें जैशीं ॥ २१७॥
कय कीजती चेइलेपणीं। स्वप्नींचीं तिये बोलणीं। तैशी जाण ते काहाणी। दुगळींचि ते ॥ २१८॥
वांचूनि आम्हीं निरूपिलें जैसें। ययाचे अचळ मूळ असे तैसें। आणि तैसाचि जरी हा असे। साचोकारा ॥ २१९॥
तरी कोणाचेनि संतानें। निपजती तया उन्मूळणें। काय फुंकिलिया गगनें। जाइजेल गा ॥ २२०॥
म्हणौनि पैं धनंजया। आम्हीं वानिलें रूप तें माया। कासवीचेनि तुपें राया। वोगरिलें जैसें ॥ २२१॥
मृगजळाचीं गा तळीं। तिये दिठी दुरूनि न्याहाळीं। वांचूनि तेणें पाणियें साळी केळी। लाविसी काई ? ॥ २२२॥
मूळ अज्ञानचि तंव लटिकें। मा तयाचें कार्य हें केतुकें। म्हणौनि संसाररुख सतुकें। वावोचि गा ॥ २२३॥
आणि अंतु यया नाहीं। ऐसें बोलिजे जें कांहीं। तेंही साचचि पाहीं। येकें परी ॥ २२४॥
तरी प्रबोधु जंव नोहे। तंव निद्रे काय अंतु आहे ?। कीं रात्री न सरे तंव न पाहे। तया आरौतें ? ॥ २२५॥
तैसा जंव पार्था। विवेकु नुधवी माथा। तंव अंतु नाहीं अश्वत्था। भवरूपा या ॥ २२६॥
वाजतें वारें निवांत। जंव न राहे जेथिंचें तेथ। तंव तरंगतां अनंत। म्हणावीचि कीं ॥ २२७॥
म्हणौनि सूर्यु जैं हारपे। तैं मृगजळाभासु लोपे। कां प्रभा जाय दीपें। मालवलेनि ॥ २२८॥
तैसें मूळ अविद्या खाये। तें ज्ञान जैं उभें होये। तैंचि यया अंतु आहे। एऱ्हवीं नाहीं ॥ २२९॥
तेवींचि हा अनादी। ऐसी ही आथी शाब्दी। तो आळु नोहे अनुरोधी। बोलातें या ॥ २३०॥
जें संसारवृक्षाच्या ठायीं। साचोकार तंव नाहीं। मा नाहीं तया आदि काई। कोण होईल ? ॥ २३१॥

जो साच जेथूनि उपजे। तयातें आदि हें साजे। आतां नाहींचि तो म्हणिजे। कोटूनियां ? ॥ २३२॥
म्हणौनि जन्मे ना आहे। ऐसिया सांगों कवण माये। यालागीं नाहींपणेंचि होये। अनादि हा ॥ २३३॥
वांझेचिया लेंका। कैंची जन्मपत्रिका। नभीं निळी भूमिका। कें कल्पूं पां ॥ २३४॥
व्योमकुसुमांचा पांडवा। कवणें देंठु तोडावा। म्हणौनि नाहीं ऐसिया भवा। आदि कैंची ? ॥ २३५॥
जैसें घटाचें नाहींपण। असतचि असे केलेनिवीण। तैसा समूळ वृक्षु जाण। अनादि हा ॥ २३६॥
अर्जुना ऐसेनि पाहीं। आद्यंतु ययासि नाहीं। माजीं स्थिती आभासे कांहीं। परी टवाळ ते ॥ २३७॥
ब्रह्मगिरीहूनि न निगे। आणि समुद्रींही कीर न रिगे। माजीं दिसे वाउगें। मृगांबु जैसें ॥ २३८॥
तेसा आद्यंती कीर नाहीं। आणि साचही नोहे कहीं। परी लटिकेपणाची नवाई। पडिभासे गा ॥ २३९॥
नाना रंगीं गजबजे। जैसें इंद्रधनुष्य देखिजे। तैसा नेणतया आपजे। आहे ऐसा ॥ २४०॥
ऐसेनि स्थितीचिये वेळे। भुलवी अज्ञानाचे डोळे। लाघवी हरी मेखळे। लोकु जैसा ॥ २४१॥
आणि नसतीचि श्यामिका। व्योमीं दिसे तैसी दिसो कां। तरी दिसणेंही क्षणा एका। होय जाय ॥ २४२॥
स्वप्नींही मानिलें लटिकें। तरी निर्वाहो कां एकसारिखें। तेवीं आभासु हा क्षणिकें। रिताचि गा ॥ २४३॥
देखतां आहे आवडें। घेऊं जाइजे तरी नातुडे। जैसा टिकु कीजे माकडें। जळामाजीं ॥ २४४॥
तरंगभंगु सांडीं पडे। विजूही न पुरे होडे। आभासासि तेणें पाडें। होणें जाणें गा ॥ २४५॥
जैसा ग्रीष्मशेषींचा वारा। नेणिजे समोर कीं पाठीमोरा। तैसी स्थिती नाहीं तरुवरा। भवरूपा यया ॥ २४६॥
एवं आदि ना अंतु स्थिती। ना रूप ययासि आथी। आतां कायसी कुंथाकुंथी। उन्मूळणी गा ॥ २४७॥
आपुलिया अज्ञानासाठीं। नव्हता थांवला किरीटी। तरी आतां आत्माज्ञानाच्या लोटीं। खांडेनि गा ॥ २४८॥
वांचूणि ज्ञानेवीण ऐकें। उपाय करिसी जितुके। तिहीं गुंफसि अधिकें। रुखीं इये ॥ २४९॥
मग किती खांदोखांदीं। यया हिंडावें ऊर्ध्वीं अधीं। म्हणौनि मूळचि अज्ञान छेदीं। सम्यक् ज्ञानें ॥ २५०॥
एऱ्हवीं दोरीचिया उरगा। डांगा मेळवितां पैं गा। तो शिणुचि वाउगा। केला होय ॥ २५१॥
तरावया मृगजळाची गंगा। डोणीलागीं धांवतां दांगा-। माजीं वोहळें बुडिजे पैं गा। साच जेवीं ॥ २५२॥
तेवीं नाथिलिया संसारा। उपाई जाचतया वीरा। आपणपें लोपे वारा। विकोपीं जाय ॥ २५३॥
म्हणौनि स्वप्नींचिया घाया। ओखद चेवोचि धनंजया। तेवीं अज्ञानमूळा यया। ज्ञानचि खड्ग ॥ २५४॥
परी तेचि लीला परजवे। तैसें वैराग्याचें नवें। अभंगबळ होआवें। बुद्धीसी गा ॥ २५५॥
उठलेनि वैराग्यें जेणें। हा त्रिवर्गु ऐसा सांडणें। जैसें वमुनियां सुणें। आतांचि गेलें ॥ २५६॥
हा ठायवरी पांडवा। पदार्थजातीं आघवा। विटवी तो होआवा। वैराग्य लाठु ॥ २५७॥
मग देहाहंतेचें दळें। सांडूनि एकेचि वेळे। प्रत्यक्‌बुद्धी करतळें। हातवसावें ॥ २५८॥
निसळें विवेकसाहणें। जें ब्रह्माहमस्मिबोधें सणाणें। मग पुरतेनि बोधें उटणें। एकलेचि ॥ २५९॥
परी निश्चयाचें मुष्टिबळ। पाहावें एकदोनी वेळ। मग तुळावें अति चोखाळ। मननवरी ॥ २६०॥
पाठीं हतियेरां आपणयां। निदिध्यासें एक जालिया। पुढें दुजें नुरेल घाया-। पुरतें गा ॥ २६१॥
तें आत्मज्ञानाचें खांडें। अद्वैतप्रभेचेनि वाडें। नेदील उरों कवणेकडे। भववृक्षासी ॥ २६२॥
शरदागमींचा वारा। जैसा केरु फेडी अंबरा। का उदयला रवी आंधारा। घोंटु भरी ॥ २६३॥
नाना उपवढ होतां खेंवो। नुरे स्वप्नसंभ्रमाचा ठावो। स्वप्नप्रतीतिधारेचा वाहो। करील तैसें ॥ २६४॥
तेव्हां ऊर्ध्वीचें मूळ। कां अधींचें हन शाखाजाळ। तें कांहींचि न दिसे मृगजळ। चादिणां जेवीं ॥ २६५॥
ऐसेनि गा वीरनाथा। आत्मज्ञानाचिया खड्गलता। छेदुनिया भवाश्वत्था। ऊर्ध्वमूळातें ॥ २६६॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४॥

मग इदंतेसि वाळलें। जें मीपणेंवीण डाहारलें। तें रूप पाहिजे आपलें। आपणचि ॥ २६७॥
परी दर्पणाचेनि आधारें। एकचि करून दुसरें। मुख पाहाती गव्हारें। तैसें नको हो ॥ २६८॥
हें पाहाणें ऐसें असे वीरा। जैसा न बोडलिया विहिरा। मग आपलिया उगमीं झरा। भरोनि ठाके ॥ २६९॥
नातरी आटलिया अंभ। निजबिंबीं प्रतिबिंब। निहटे कां नभीं नभ। घटाभावीं ॥ २७०॥
नाना इंधनांशु सरलेया। वन्हि परते जेवीं आपणपयां। तैसें आपेंआप धनंजया। न्याहाळणें जें गा ॥ २७१॥
जिव्हे आपली चवी चाखणें। चक्षू निज बुबुळ देखणें। आहे तया ऐसें निरीक्षणें। आपुलें पैं ॥ २७२॥
कां प्रभेसि प्रभा मिळे। गगन गगनावरी लोळे। नाना पाणी भरलें खोळे। पाणियाचिये ॥ २७३॥
आपणचि आपणयातें। पाहिजे जें अद्वैतें। तें ऐसें होय निरुतें। बोलिजतु असे ॥ २७४॥
जें पाहिजतेनवीण पाहिजे। कांहीं नेणणाचि जाणिजे। आद्यपुरुष कां म्हणिजे। जया ठायातें ॥ २७५॥
तेथही उपाधीचा वोथंबा। घेऊनि श्रुति उभविती जिभा। मग नामरूपाचा वडंबा। करिती वायां ॥ २७६॥
पैं भवस्वर्गा उबगले। मुमुक्षु योगज्ञाना वळघले। पुढती न यों इया निगाले। पैजा जेथ ॥ २७७॥
संसाराचिया पायां पुढां। पळती वीतराग होडा। ओलांडोनि ब्रह्मपदाचा कर्मकडा। घालिती मागां ॥ २७८॥
अहंतादिभावां आपुलियां। झाडा देऊनि आघवेया। पत्र घेती ज्ञानिये जया। मूळघरासी ॥ २७९॥
पैं जेथुनी हे एवढी। विश्वपरंपरेची वेलांडी। वाढती आशा जैशी कोरडी। निदैवाची ॥ २८०॥
जिये कां वस्तूचें नेणणें। आणिलें थोर जगा जाणणें। नाहीं तें नांदविलें जेणें। मी तूं जगीं ॥ २८१॥
पार्था तें वस्तु पहिलें। आपणपें आपुलें। पाहिजे जैसें हिंवलें। हिंव हिंवें ॥ २८२॥
आणीकही एक तया। वोळखण असे धनंजया। तरी जया कां भेटलिया। येणेंचि नाहीं ॥ २८३॥
परी तया भेटती ऐसें। जे ज्ञानें सर्वत्र सरिसे। महाप्रळयांबूचे जैसें। भरलेपण ॥ २८४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५॥

जया पुरुषांचें कां मन। सांडोनि गेलें मोह मान। वर्षांतीं जैसें घन। आकाशातें ॥ २८५॥
निकवड्या निष्ठुरा। उबगिजे जेवीं सोयरा। तैसें नागवती विकारां। वेटाळूं जे ॥ २८६॥
फळली केळी उन्मूळे। तैसी आत्मलाभें प्रबळे। तयाची क्रिया ढाळेंढाळें। गळती आहे ॥ २८७॥
आगी लगलिया रुखीं। देखोनि सैरा पळती पक्षी। तैसें सांडिलें अशेखीं। विकल्पीं जे ॥ २८८॥
आइकें सकळ दोषतृणीं। अंकुरिजती जिये मेदिनी। तिये भेदबुद्धीची काहाणी। नाहीं जयातें ॥ २८९॥
सूर्योदयासरिसी। रात्री पळोनि जाय अपैसी। गेली देहअहंता तैसी। अविद्येसवें ॥ २९०॥
पैं आयुष्यहीना जीवातें। शरीर सांडी जेवीं अवचितें। तेवीं निदसुरें द्वैतें। सांडिले जे ॥ २९१॥
लोहाचें साम्कडें परिसा। न जोडे अंधारु रवि जैसा। द्वैतबुद्धीचा तैसा। सदा दुकाळ जया ॥ २९२॥
अगा सुखदुःखाकारें। द्वंद्वं देहीं जियें गोचरें। तियें जयां कां समोरें। होतीचिना ॥ २९३॥
स्वप्नींचें राज्य कां मरण। नोहे हर्षशोकांसि कारण। उपवढलिया जाण। जियापरी ॥ २९४॥
तैसेम् सुखदुःखरूपीं। द्वंद्वीं जे पुण्यपापीं। न घेपिजती सर्पी। गरुड जैसें ॥ २९५॥

आणि अनात्मवर्गनीर। सांडूनि आत्मरसाचें क्षीर। चरताति जे सविचार। राजहंसु ॥ २९६॥
जैसा वर्षोनि भूतळीं। आपला रसु अंशुमाळी। मागौता आणी रश्मिजाळीं। बिंबासीचि ॥ २९७॥
तैसें आत्मभ्रांतीसाठीं। वस्तु विखुरली बारावाटीं। ते एकवटिती ज्ञानदृष्टी। अखंड जे ॥ २९८॥
किंबहुना आत्मयाचा। निर्धारीं विवेकु जयांचा। बुडाला वोघु गंगेचा। सिंधूमाजीं जैसा ॥ २९९॥
पैं आघवेंचि आपुलेंपणें। नुरेचि जया अभिलाषणें। जैसें येथूनि पऱ्हां जाणें। आकाशा नाहीं ॥ ३००॥
जैसा अग्नीचा डोंगरु। नेघे कोणी बीज अंकुरु। तैसा मनीं जयां विकारु। उदैजेना ॥ ३०१॥
जैसा काढिलिया मंदराचळु। राहे क्षीराब्धि निश्चळु। तैसा नुठी जयां सळु। कामोर्मीचा ॥ ३०२॥
चंद्रमा कळीं धाला। न दिसे कोणें आंगी वोसावला। तेवीं अपेक्षेचा अवखळा। न पडे जयां ॥ ३०३॥
हें किती बोलूं असांगडें। जेवीं परमाणु नुरे वायूपुढें। तैसें विषयांचें नावडे। नांवचि जयां ॥ ३०४॥
एवं जे जे कोणी ऐसे। केले ज्ञानाग्नि हुताशें। ते तेथ मिळती जैसें। हेमीं हेम ॥ ३०५॥
तेथ म्हणिजे कवणें ठाईं। ऐसेंही पुससी कांहीं। तरी तें पद गा नाहीं। वेंचु जया ॥ ३०६॥
दृश्यपणें देखिजे। कां ज्ञेयत्वें जाणिजे। अमुकें ऐसें म्हणिजे। तें जें नव्हे ॥ ३०७॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पवकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६॥

पैं दीपाचिया बंबाळीं। कां चंद्र हन जें उजळी। हें काय बोलों अंशुमाळी। प्रकाशी जें ॥ ३०८॥
तें आघवेंचि दिसणें। जयाचें कां न देखणें। विश्व भासतसे जेणें। लपालेनी ॥ ३०९॥
जैसें शिंपीपण हारपे। तंव तंव खरें होय रुपें। कां दोरी लोपतां सापें। फार होइजे ॥ ३१०॥
तैसीं चंद्रसूर्यादि थोरें। इयें तेजें जियें फारें। तियें जयाचेनि आधारें। प्रकाशती ॥ ३११॥
ते वस्तु कीं तेजोराशी। सर्वभूतात्मक सरिसी। चंद्रसूर्याच्या मानसीं। प्रकाशे जे ॥ ३१२॥
म्हणौनि चंद्रसूर्य कडवसां। पडती वस्तूच्या प्रकाशा। यालागीं तेज जें तेजसा। तें वस्तूचें आंग ॥ ३१३॥
आणि जयाच्या प्रकाशीं। जग हारपे चंद्रार्केंसीं। सचंद्र नक्षत्रें जैसीं। दिनोदयीं ॥ ३१४॥
नातरी प्रबोधलिये वेळे। ते स्वप्नींची डिंडीमा मावळे। कां नुरेचि सांजवेळे। मृगतृष्णिका ॥ ३१५॥
तैसा जिये वस्तूच्या ठायीं। कोण्हीच कां आभासु नाहीं। तें माझें निजधाम पाहीं। पाटाचें गा ॥ ३१६॥
पुढती जे तेथ गेले। ते न घेती माघौतीं पाउलें। महोदधीं कां मिनले। स्रोत जैसे ॥ ३१७॥
कां लवणाची कुंजरी। सूदलिया लवणसागरीं। होयचि ना माघारी। परती जैसी ॥ ३१८॥
नाना गेलिया अंतराळा। न येतीचि वन्हिज्वाळा। नाहीं तप्तलोहौनि जळा। निघणें जेवीं ॥ ३१९॥
तेवीं मजसीं एकवट। जे जाले ज्ञानें चोखट। तयां पुनरावृत्तीची वाट। मोडली गा ॥ ३२०॥
तेथ प्रज्ञापृथ्वीचा रावो। पार्थु म्हणे जी जी पसावो। परी विनंती एकी देवो। चित्त देतु ॥ ३२१॥
तरी देवेंसि स्वयें एक होती। मग माघौते जे न येती। ते देवेंसि भिन्न आथी। कीं अभिन्न जी ॥ ३२२॥
जरी भिन्नचि अनादिसिद्ध। तरी न येती हें असंबद्ध। जे फुलां गेलें षट्पद। ते फुलेंचि होती पां ॥ ३२३॥
पैं लक्ष्याहूनि अनारिसे। बाण लक्ष्यीं शिवोनि जैसें। मागुते पडती तैसे। येतीचि ते ॥ ३२४॥
नातरी तूंचि ते स्वभावें। तरी कोणें कोणासि मिळावें। आपणयासी आपण रुपावें। शस्त्रें केवीं ? ॥ ३२५॥
म्हणौनि तुजसी अभिन्नां जीवां। तुझा संयोगवियोगु देवा। नये बोलों अवयवां। शरीरेंसीं ॥ ३२६॥
आणि जे सदां वेगळें तुजसीं। तयां मिळणीं नाहीं कोणे दिवशीं। मा येती न येती हे कायसी। वायबुद्धि ? ॥ ३२७॥

तरी कोण गा ते तूंतें। पावोनि न येती माघौते। हें विश्वतोमुखा मातें। बुझावीं जी ॥ ३२८॥
इये आक्षेपीं अर्जुनाच्या। तो शिरोमणि सर्वज्ञांचा। तोषला बोध शिष्याचा। देखोनियां ॥ ३२९॥
मग म्हणे गा महामती। मातें पावोनि न येती पुढती। ते भिन्नाभिन्न रिती। आहाती दोनी ॥ ३३०॥
जैं विवेकें खोलें पाहिजे। तरी मी तेचि ते सहजें। ना आहाचवाहाच तरी दुजे। ऐसेही गमती ॥ ३३१॥
जैसे पाणियावरी वेगळ। तळपतां दिसती कल्लोळ। एऱ्हवीं तरी निखिळ। पाणीचि तें ॥ ३३२॥
कां सुवर्णाहुनि आनें। लेणीं गमती भिन्नें। मग पाहिजे तंव सोनें। आघवेंचि तें ॥ ३३३॥
तैसें ज्ञानाचिये दिठी। मजसीं अभिन्नचि ते किरीटी। येर भिन्नपण तें उठी। अज्ञानास्तव ॥ ३३४॥
आणि साचोकारेनि वस्तुविचारें। कैचें मज एकासि दुसरें। भिन्नाभिन्नव्यवहारें। उमसिजेल ॥ ३३५॥
आघवेंचि आकाश सूनि पोटीं। बिंबचि जैं आते खोटी। तैं प्रतिबिंब कें उठी। कें रश्मि शिरे ? ॥ ३३६॥
कां कल्पांतींचिया पाणिया। काय वोत भरिती धनंजया ?। म्हणौनि कैंचें अंश अविक्रिया। एका मज ॥ ३३७॥
परी ओघाचेनि मेळें। पाणी उजू परी वांकुडें जालें। रवी दुजेपण आलें। तोयबगें ॥ ३३८॥
व्योम चौफळें कीं वाटोळें। हें ऐसें कायिसयाही मिळे। परी घटमठीं वेंटाळें। तैसेंही आथी ॥ ३३९॥
हां गा निद्रेचेनि आधारें। काय एकलेनि जग न भरे ?। स्वप्नींचेनि जैं अवतरे। रायपणें ॥ ३४०॥
कां मिनलेनि किडाळें। वानिभेदासि ये सोळें। तैसा स्वमाये वेंटाळें। शुद्ध जैं मी ॥ ३४१॥
तैं अज्ञान एक रूढे। तेणें कोऽहंविकल्पाचें मांडे। मग विवरूनि कीजे फुडें। देहो मी ऐसें ॥ ३४२॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७॥

ऐसें शरीराचि येवढें। जै आत्मज्ञान वेगळें पडे। तैं माझा अंशु आवडे। थोडेपणें ॥ ३४३॥
समुद्र कां वायुवशें। तरंगाकार उल्लसें। तो समुद्रांशु ऐसा दिसे। सानिवा जेवीं ॥ ३४४॥
तेवीं जडातें जीवविता। देहअहंता उपजविता। मी जीव गमें पंडुसुता। जीवलोकीं ॥ ३४५॥
पैं जीवाचिया बोधा। गोचरु जो हा धांदा। तो जीवलोकशब्दा। अभिप्रावो ॥ ३४६॥
अगा उपजणें निमणें। हें साचचि जे कां मानणें। तो जीवलोकु मी म्हणे। संसारु हन ॥ ३४७॥
एवंविध जीवलोकीं। तूं मातें ऐसा अवलोकीं। जैसा चंद्रु कां उदकीं। उदकातीत ॥ ३४८॥
पैं काश्मीराचा रवा। कुंकुमावरी पांडवा। आणिका गमे लोहिवा। तो तरी नव्हे ॥ ३४९॥
तैसें अनादिपण न मोडे। माझें अक्रियत्व न खंडे। परी कर्ता भोक्ता ऐसें आवडे। ते जाण गा भ्रांती ॥ ३५०॥
किंबहुना आत्मा चोखटु। होऊनि प्रकृतीसी एकवटु। बांधे प्रकृतिधर्माचा पाटु। आपणपयां ॥ ३५१॥
पैं मनादि साही इंद्रियें। श्रोत्रादि प्रकृतिकार्यें। तियें माझीं म्हणौनि होये। व्यापारारूढ ॥ ३५२॥
जैसें स्वप्नीं परिव्राजें। आपणपयां आपण कुटुंब होईजे। मग तयाचेनि धांविजे। मोहें सैरा ॥ ३५३॥
तैसा आपलिया विस्मृती। आत्मा आपणचि प्रकृती-। सारिखा गमोनि पुढती। तियेसीचि भजे ॥ ३५४॥
मनाच्या रथीं वळघे। श्रवणाचिया द्वारें निघे। मग शब्दाचिया रिघे। रानामाजीं ॥ ३५५॥
तोचि प्रकृतीचा वागोरा। त्वचेचिया मोहरा। आणि स्पर्शाचिया घोरा। वना जाय ॥ ३५६॥
कोणे एके अवसरीं। रिघोनि नेत्राच्या द्वारीं। मग रूपाच्या डोंगरीं। सैरा हिंडे ॥ ३५७॥
कां रसनेचिया वाटा। निघोनि गा सुभटा। रसाचा दरकुटा। भरोंचि लागे ॥ ३५८॥
नातरी येणेंचि घ्राणें। जैं देहांशु करी निघणें। मग गंधाची दारुणें। आडवें लंघी ॥ ३५९॥

ऐसेनि देहेंद्रियनायकें। धरूनि मन जवळिकें। भोगिजती शब्दादिकें। विषयभरणें ॥ ३६०॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८॥

परी कर्ता भोक्ता ऐसें। हें जीवाचे तैंचि दिसे। जैं शरीरीं कां पैसे। एकाधिये ॥ ३६१॥
जैसा आथिला आणि विलासिया। तैंचि वोळखों ये धनंजया। जैं राजसेव्या ठाया। वस्तीसि ये ॥ ३६२॥
तैसा अहंकर्तृत्वाचा वाढु। कां विषयेंद्रियांचा धुमाडु। हा जाणिजे तैं निवाडु। जैं देह पाविजे ॥ ३६३॥
अथवा शरीरातें सांडी। तऱ्ही इंद्रियांची तांडी। हे आपणयांसवें काढी। घेऊनि जाय ॥ ३६४॥
जैसा अपमानिला अतिथी। ने सुकृताची संपत्ति। कां साइखडेयाची गती। सूत्रतंतू ॥ ३६५॥
नाना मावळतेनि तपनें। नेइजेती लोकांचीं दर्शनें। हें असो द्रुती पवनें। नेईजे जैसी ॥ ३६६॥
तेवीं मनःषष्ठां ययां। इंद्रियांतें धनंजया। देहराजु ने देहा-। पासूनि गेला ॥ ३६७॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९॥

मग येथ अथवा स्वर्गीं। जेथ जें देह आपंगी। तेथ तैसेंचि पुढती पांगी। मनादिक ॥ ३६८॥
जैसा मालवलिया दिवा। प्रभेसी जाय पांडवा। मग उजळिजे तेथ तेधवां। तैसाचि फांके ॥ ३६९॥
तरी ऐसैसिया राहाटी। अविवेकियांचे दिठी। येतुलें हें किरीटी। गमेचि गा ॥ ३७०॥
जे आत्मा देहासि आला। आणि विषयो येणेंचि भोगिला। अथवा देहोनि गेला। हें साचचि मानिती ॥ ३७१॥
एऱ्हवीं येणें आणि जाणें। कां करणें हा भोगणें। हें प्रकृतीचें तेणें। मानियेलें ॥ ३७२॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितं ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितं ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११॥

परी देहाचे मोटकें उभें। आणि चेतना तेथ उपलभे। तिये चळवळेचेनि लोभें। आला म्हणती ॥ ३७३॥
तैसेंचि तयां संगती। इंद्रियें आपुलाल्या अर्थीं वर्तती। तया नांव सुभद्रापती। भोगणें जया ॥ ३७४॥
पाठीं भोगक्षीण आपैसे। देह गेलिया ते न दिसे। तेथें गेला गेला ऐसें। बोभाती गा ॥ ३७५॥
पैं रुखु डोलतु देखावा। तरी वारा वाजतु मानावा। रुखु नसे तेथें पांडवा। नाहीं तो गा ? ॥ ३७६॥
कां आरिसा समोर ठेविजे। आणि आपणपें तेथ देखिजे। तरी तेधवांचि जालें मानिजे। काय आधीं नाहीं ? ॥ ३७७॥
कां परता केलिया आरिसा। लोपु जाला तया आभासा। तरी आपणपें नाहीं ऐसा। निश्चयो करावा ? ॥ ३७८॥
शब्द तरी आकाशाचा। परी कपाळीं पिटे मेघाचा। कां चंद्रीं वेगु अभ्राचा। अरोपिजे ॥ ३७९॥

तैसें होइजे जाइजे देहें। तें आत्मसत्ते अविक्रिये। निष्टंकिती गा मोहें। आंधळे ते ॥ ३८०॥
येथ आत्मा आत्मयाच्या ठायीं। देखिजे देहींचा धर्मु देहीं। ऐसें देखणें तें पाहीं। आन आहाती ॥ ३८१॥
ज्ञानें कां जयाचे डोळे। देखोनि न राहती देहींचे खोळे। सूर्यरश्मी आणियाळे। ग्रीष्मीं जैसें ॥ ३८२॥
तैसे विवेकाचेनि पैसें। जयांची स्फूर्ती स्वरूपीं बैसे। ते ज्ञानिये देखती ऐसें। आत्मयातें ॥ ३८३॥
जैसें तारांगणीं भरलें। गगन समुद्रीं बिंबलें। परी तें तुटोनि नाहीं पडिलें। ऐसें निवडे ॥ ३८४॥
गगन गगनींचि आहे। हें आभासे तें वाये। तैसा आत्मा देखती देहें। गंवसिलाही ॥ ३८५॥
खळाळाच्या लगबगीं। फेडूनि खळाळाच्या भागीं। देखिजे चंद्रिका कां उगी। चंद्रीं जेवीं ॥ ३८६॥
कां नाडरचि भरे शोषें। सूर्यु तो जैसा तैसाचि असे। देह होतां जातां तैसें। देखती मातें ॥ ३८७॥
घटु मठु घडले। तेचि पाठीं मोडले। परी आकाश तें संचलें। असतचि असे ॥ ३८८॥
तैसें अखंडे आत्मसत्ते। अज्ञानदृष्टि कल्पितें। हें देहचि होतें जातें। जाणती फुडें ॥ ३८९॥
चैतन्य चढे ना वोहटे। चेष्टवी ना चेष्टे। ऐसें आत्मज्ञानें चोखटें। जाणती ते ॥ ३९०॥
आणि ज्ञानही आपैतें होईल। प्रज्ञा परमाणुही उगाणा घेईल। सकळ शास्त्रांचें येईल। सर्वस्व हातां ॥ ३९१॥
परी ते व्युत्पत्ति ऐसी। जरी विरक्ति न रिगे मानसीं। तरी सर्वात्मका मजसीं। नव्हेचि भेटी ॥ ३९२॥
पैं तोंड भरो कां विचारा। आणि अंतःकरणीं विषयांसि थारा। तरी नातुडें धनुर्धरा। त्रिशुद्धी मी ॥ ३९३॥
हां गा वोसणतयाच्या ग्रंथीं। काई तुटती संसारगुंती ?। कीं परिवसिलिया पोथीं। वाचिली होय ? ॥ ३९४॥
नाना बांधोनियां डोळे। घ्राणीं लाविजती मुक्ताफळें। तरी तयांचें काय कळे। मोल मान ? ॥ ३९५॥
तैसा चित्तीं अहंते ठावो। आणि जिभे सकळशास्त्रांचा सरावो। ऐसेनि कोडी एक जन्म जावो। परी न पविजे मातें ॥ ३९६॥
जो एक मी कां समस्तीं। व्यापकु असें भूतजातीं। ऐक तिये व्याप्ती। रूप करूं ॥ ३९७॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२॥

तरी सूर्यासकट आघवी। हे विश्वरचना जे दावी। ते दीप्ति माझी जाणावी। आद्यंतीं आहे ॥ ३९८॥
जल शोषूनि गेलिया सविता। ओलांश पुरवीतसे जे माघौता। ते चंद्रीं पंडुसुता। ज्योत्स्ना माझी ॥ ३९९॥
आणि दहन-पाचनसिद्धी। करीतसे जें निरवधी। ते हुताशीं तेजोवृद्धी। माझीचि गा ॥ ४००॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३॥

मी रिगालों असें भूतळीं। म्हणौनि समुद्र महाजळीं। हे पांसूचि ढेंपुळी। विरेचिना ॥ ४०१॥
आणी भूतेंही चराचरें। हे धरितसे जियें अपारें। तियें मीचि धरी धरे। रिगोनियां ॥ ४०२॥
गगनीं मी पंडुसुता। चंद्राचेनि मिसें अमृता। भरला जालों चालता। सरोवरु ॥ ४०३॥
तेथूनि फांकती रश्मिकर। ते पाट पेलूनि अपार। सर्वौषधींचे आगर। भरित असें मी ॥ ४०४॥
ऐसेनि सस्यादिकां सकळां। करी धान्यजाती सुकाळा। दें अन्नद्वारां जिव्हाळा। भूतजातां ॥ ४०५॥
आणि निपजविलें अन्न। तरी तैसें कैचें दीपन। जेणें जिरूनि समाधान। भोगिती जीव ॥ ४०६॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

म्हणौनि प्राणिजातांच्या घटीं। करूनि कंदावरी आगिठी। दीप्ति जठरींही किरीटी। मीचि जालों ॥ ४०७॥
प्राणापानाच्या जोडभातीं। फुंकफुंकोनियां अहोराती। आटीतसें नेणों किती। उदरामाजीं ॥ ४०८॥
शुष्कें अथवा स्निग्धें। सुपक्वें कां विदग्धें। परी मीचि गा चतुर्विधें। अन्नें पचीं ॥ ४०९॥
एवं मीचि आघवें जन। जना निरवितें मीचि जीवन। जीवनीं मुख्य साधन। वन्हिही मीचि ॥ ४१०॥
आतां ऐसियाहीवरी काई। सांगों व्याप्तीची नवाई। येथ दुजें नाहींचि घेई। सर्वत्र मी गा ॥ ४११॥
तरी कैसेनि पां वेखें। सदा सुखियें एकें। एकें तियें बहुदुःखें। क्रांत भूतें ॥ ४१२॥
जैसी सगळिये पाटणीं। एकेंचि दीपें दिवेलावणी। जालिया कां न देखणी। उरलीं एकें ॥ ४१३॥
ऐसी हन उखिविखी। करित आहासि मानसीं कीं। तरी परिस तेही निकी। शंका फेडुं ॥ ४१४॥
पैं आघवा मीचि असें। येथ नाहीं कीर अनारिसें। परी प्राणियांचिया उल्लासें। बुद्धि ऐसा ॥ ४१५॥
जैसें एकचि आकाशध्वनी। वाद्यविशेषीं आनानीं। वाजावें पडे भिन्नीं। नादांतरीं ॥ ४१६॥
कां लोकचेष्टीं वेगळालां। जो हा एकचि भानु उदैला। तो आनानी परी गेला। उपयोगासी ॥ ४१७॥
नाना बीजधर्मानुरूप। झाडीं उपजविलें आप। तैसें परिणमलें स्वरूप। माझें जीवां ॥ ४१८॥
अगा नेणा आणि चतुरा। पुढां निळयांचा दुसरा। नेणा सर्पत्वें जाला येरा। सुखालागीं ॥ ४१९॥
हें असो स्वातीचें उदक। शुक्तीं मोतीं व्याळीं विख। तैसा सज्ञानांसी मी सुख। दुःख तों अज्ञानांसी ॥ ४२०॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेवचाहम् ॥ १५ ॥

एऱ्हवीं सर्वांच्या हृदयदेशीं। मी अमुका आहें ऐसी। जे बुद्धि स्फुरे अहर्निशीं। ते वस्तु गा मी ॥ ४२१॥
परी संतासवें वसतां। योगज्ञानीं पैसतां। गुरुचरण उपासितां। वैराग्येंसीं ॥ ४२२॥
येणेंचि सत्कर्में। अशेषही अज्ञान विरमे। जयांचें अहं विश्रामे। आत्मरूपीं ॥ ४२३॥
ते आपेआप देखोनि देखीं। मियां आत्मेनि सदा सुखी। येथें मीवांचून अवलोकीं। आन हेतु असे ? ॥ ४२४॥
अगा सूर्योदयो जालिया। सूर्यें सूर्यचि पहावा धनंजया। तेवीं मातें मियां जाणावया। मीचि हेतु ॥ ४२५॥
ना शरीरपरातें सेवितां। संसारगौरवचि ऐकतां। देहीं जयांची अहंता। बुडोनि ठेली ॥ ४२६॥
ते स्वर्गसंसारालागीं। धांवतां कर्ममार्गीं। दुःखाच्या सेलभागीं। विभागी होती ॥ ४२७॥
परी हेंही होणें अर्जुना। मजचिस्तव तया अज्ञाना। जैसा जागताचि हेतु स्वप्ना। निद्रेतें होय ॥ ४२८॥
पैं अभ्रें दिवसु हरपला। तोहि दिवसेंचि जाणों आला। तेवीं मी नेणोनि विषयो देखिला। मजचिस्तव भूतीं ॥ ४२९॥
एवं निद्रा कां जागणिया। प्रबोधुचि हेतु धनंजया। तेवीं ज्ञाना अज्ञाना जीवां यां। मीचि मूळ ॥ ४३०॥
जैसें सर्पत्वा कां दोरा। दोरुचि मूळ धनुर्धरा। तैसा ज्ञाना अज्ञानाचिया संसारा। मियांचि सिद्धु ॥ ४३१॥
म्हणौनि जैसा असें तैसया। मातें नेणोनि धनंजया। वेदु जाणों गेला तंव तया। जालिया शाखा ॥ ४३२॥
तरी तिहीं शाखाभेदीं। मीचि जाणिजे त्रिशुद्धी। जैसा पूर्वापरा नदी। समुद्रचि ठी ॥ ४३३॥
आणि महासिद्धांतापासीं। श्रुति हारपतीं शब्देंसीं। जैसिया सगंधा आकाशीं। वातलहरी ॥ ४३४॥
तैसें समस्तही श्रुतिजात। ठाके लाजिले ऐसें निवांत। तें मीचि करीं यथावत। प्रकटोनियां ॥ ४३५॥

पाठीं श्रुतिसकट अशेष। जग हारपे जेथ निःशेष। तें निजज्ञानही चोख। जाणता मीचि ॥ ४३६॥
जैसें निदेलिया जागिजे। तेव्हां स्वप्नींचे कीर नाहीं दुजें। परी एकत्वही देखों पाविजे। आपलेंचि ॥ ४३७॥
तैसें आपलें अद्वयपण। मी जाणतसें दुजेनवीण। तयाही बोधाकारण। जाणता मीचि ॥ ४३८॥
मग आगी लागलिया कापुरा। ना काजळी ना वैश्वानरा। उरणें नाहीं वीरा। जयापरी ॥ ४३९॥
तेवीं समूळ अविद्या खाये। तें ज्ञानही जैं बुडोनि जाये। तऱ्ही नाहीं कीर नोहे। आणि न साहे असणेंही ॥ ४४०॥
पैं विश्व घेऊनि गेला मागेंसीं। तया चोरातें कवण कें गिंवसी ?। जे कोणी एकी दशा ऐसी। शुद्ध ते मी ॥ ४४१॥
ऐसी जडाजडव्याप्ती। रूप करितां कैवल्यपती। ठी केली निरुपहितीं। आपुल्या रूपीं ॥ ४४२॥
तो आघवाचि बोधु सहसा। अर्जुनीं उमटला कैसा। व्योमींचा चंद्रोदयो जैसा। क्षीरार्णवीं ॥ ४४३॥
कां प्रतिभिंती चोखटे। समोरील चित्र उमटे। तैसा अर्जुनें आणि वैकुंठें। नांदतसे बोधु ॥ ४४४॥
तरी बाप वस्तुस्वभावो। फावे तंव तंव गोडिये थांवो। म्हणौनि अनुभवियांचा रावो। अर्जुन म्हणे ॥ ४४५॥
जी व्यापकपण बोलतां। निरुपाधिक जें आतां। स्वरूप प्रसंगता। बोलिले देवो ॥ ४४६॥
ते एक वेळ अव्यंगवाणें। कीजो कां मजकारणें। तेथ द्वारकेचा नाथु म्हणे। भलें केलें ॥ ४४७॥
पैं अर्जुना आम्हांहि वाडेंकोडें। अखंडा बोलों आवडे। परी काय कीजे न जोडे। पुसतें ऐसें ॥ ४४८॥
आजि मनोरथांसि फळ। जोडलासि तूं केवळ। जे तोंड भरूनि निखळ। आलासि पुसों ॥ ४४९॥
जें अद्वैताहीवरी भोगिजे। तें अनुभवींच तूं विरजे। पुसोनि मज माझें। देतासि सुख ॥ ४५०॥
जैसा आरिसा आलिया जवळां। दिसे आपणपें आपला डोळा। तैसा संवादिया तूं निर्मळा। शिरोमणी ॥ ४५१॥
तुवां नेणोनि पुसावें। मग आम्ही परिसऊं बैसावें। तो गा हा पाडु नव्हे। सोयरेया ॥ ४५२॥
ऐसें म्हणौनि आलिंगिलें। कृपादृष्टी अवलोकिलें। मग देवो काय बोलिले। अर्जुनेंसीं ॥ ४५३॥
पैं दोहीं वोठीं एक बोलणें। दोहीं चरणीं एक चालणें। तैसें पुसणें सांगणें। तुझें माझें ॥ ४५४॥
एवं आम्ही तुम्ही येथें। देखावें एका अर्थातें। सांगतें पुसतें येथें। दोन्ही एक ॥ ४५५॥
ऐसा बोलत देवो भुलला मोहें। अर्जुनातें आलिंगूनि ठाये। मग बिहाला म्हणे नोहें। आवडी हे ॥ ४५६॥
जाले इक्षुरसाचें ढाळ। तरी लवण देणें किडाळ। जे संवादसुखाचें रसाळ। नासेल थितें ॥ ४५७॥
आधींच आम्हां यया कांहीं। नरनारायणासी भिन्न नाहीं। परी आतां जिरो माझ्या ठाईं। वेगु हा माझा ॥ ४५८॥
इया बुद्धी सहसा। श्रीकृष्ण म्हणे वीरेशा। पैं गा तो तुवां कैसा। प्रश्नु केला ? ॥ ४५९॥
जो अर्जुन श्रीकृष्णीं विरत होता। तो परतोनि मागुता। प्रश्नावळीची कथा। ऐकों आला ॥ ४६०॥
तेथ सद्गदें बोलें। अर्जुनें जी जी म्हणितलें। निरुपाधिक आपुलें। रूप सांगा ॥ ४६१॥
यया बोला तो शारङ्गी। तेंचि सांगावयालागीं। उपाधी दोहीं भागीं। निरूपीत असे ॥ ४६२॥
पुसिलिया निरुपहित। उपाधि कां सांगे येथ। हें कोण्हाही प्रस्तुत। गमे जरी ॥ ४६३॥
तरी ताकाचें अंश फेडणें। याचि नांव लोणी काढणें। चोखाचिये शुद्धी तोडणें। कीडचि जेवीं ॥ ४६४॥
बाबुळीचि सारावी हातें। परी पाणी तंव असे आइतें। अभ्रचि जावें गगन तें। सिद्धचि कीं ॥ ४६५॥
वरील कोंडियाचा गुंडाळा। झाडूनि केलिया वेगळा। कणु घेतां विरंगोळा। असे काई ? ॥ ४६६॥
तैसा उपाधि उपहितां। शेवटु जेथ विचारितां। तें कोणातेंही न पुसतां। निरुपाधिक ॥ ४६७॥
जैसें न सांगणेंवरी। बाळा पतीसी रूप करी। बोल निमालेपणें विवरी। अचर्चातें ॥ ४६८॥
पैं सांगणेया जोगें नव्हे। तेथींचें सांगणें ऐसें आहे। म्हणौनि उपाधि लक्ष्मीनाहे। बोलिजे आदीं ॥ ४६९॥
पाडिव्याची चंद्ररेखा। निरुती दावावया शाखा। दाविजे तेवीं औपाधिका। बोली इया ॥ ४७०॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

मग तो म्हणे गा सव्यसाची। पैं इये संसारपाटणींची। वस्ती साविया टांची। दुपुरुषीं ॥ ४७१॥
जैसी आघवांचि गगनीं। नांदत दिवोरात्री दोन्ही। तैसे संसार राजधानीं। दोन्हीचि हे ॥ ४७२॥
आणिकही तिजा पुरुष आहे। परी तो या दोहींचें नांव न साहे। जो उदेला गांवेंसीं खाये। दोहींतें ययां ॥ ४७३॥
परी ते तंव गोठी असो। आधीं दोन्हींची हे परियेसों। जें संसारग्रामा वसों। आले असती ॥ ४७४॥
एक आंधळा वेडा पंगु। येर सर्वांगें पुरता चांगु। परी ग्रामगुणें संगु। घडला दोघां ॥ ४७५॥
तया एका नाम क्षरु। येरातें म्हणती अक्षरु। इहीं दोहींचि परी संसारु। कोंदला असे ॥ ४७६॥
आतां क्षरु तो कवणु। अक्षरु तो किं लक्षणु। हा अभिप्रायो संपूर्णु। विवंचूं गा ॥ ४७७॥
तरी महदहंकारा-। लागुनियां धनुर्धरा। तृणांतींचा पांगोरा-। वरी पैं गा ॥ ४७८॥
जें कांहीं सानें थोर। चालतें अथवा स्थिर। किंबहुना गोचर। मनबुद्धींसि जें ॥ ४७९॥
जेतुलें पांचभौतिक घडतें। जें नामरूपा सांपडतें। गुणत्रयाच्या पडतें। कामठां जें ॥ ४८०॥
भूताकृतीचें नाणें। घडत भांगारें जेणें। काळासि जूं खेळणें। जिहीं कवडां ॥ ४८१॥
जाणणेंचि विपरीतें। जें जें कांहीं जाणिजेतें। जें प्रतिक्षणीं निमतें। होऊनियां ॥ ४८२॥
अगा काढूनि भ्रांतीचे दांग। उभवी सृष्टीचें आंग। हें असो बहु जग। जया नाम ॥ ४८३॥
पैं अष्टधा भिन्न ऐसें। जें दाविलें प्रकृतिमिसें। जें क्षेत्रद्वारां छत्तिसें। भागीं केलें ॥ ४८४॥
हें मागील सांगों किती। अगा आतांचि जें प्रस्तुतीं। वृक्षाकार रूपाकृती। निरूपिलें ॥ ४८५॥
तें आघवेंचि साकारें। कल्पुनी आपणपयां पुरे। जालें असें तदनुसारें। चैतन्यचि ॥ ४८६॥
जैसा कुहां आपणचि बिंबें। सिंह प्रतिबिंब पाहतां क्षोभे। मग क्षोभला समारंभें। घाली तेथ ॥ ४८७॥
कां सलिलीं असतचि असे। व्योमावरी व्योम बिंबे जैसें। अद्वैत होऊनि तैसें। द्वैत घेपे ॥ ४८८॥
अर्जुना गा यापरी। साकार कल्पूनि पुरीं। आत्मा विस्मृतीचि करी। निद्रा तेथ ॥ ४८९॥
पैं स्वप्नीं सेजार देखिजे। मग पहुडणें जैसें तेथ कीजे। तैसें पुरीं शयन देखिजे। आत्मयासी ॥ ४९०॥
पाठीं तिये निद्रेचेनि भरें। मी सुखी दुःखी म्हणत घोरें। अहंममतेचेनि थोरें। वोसणायें सादें ॥ ४९१॥
हा जनकु हे माता। हा मी गौर हीन पुरता। पुत्र वित्त कांता। माझें हें ना ॥ ४९२॥
ऐसिया वेंघोनि स्वप्ना। धांवत भवस्वर्गाचिया राना। तया चैतन्या नाम अर्जुना। क्षर पुरुषु गा ॥ ४९३॥
आतां ऐक क्षेत्रज्ञु येणें। नामें जयातें बोलणें। जग जीवु कां म्हणे। जिये दशेतें ॥ ४९४॥
जो आपुलेनि विसरें। सर्व भूतत्वें अनुकरें। तो आत्मा बोलिजे क्षरें। पुरुष नामें ॥ ४९५॥
जे तो वस्तुस्थिती पुरता। म्हणौनि आली पुरुषता। वरी देहपुरीं निदैजतां। पुरुषनामें ॥ ४९६॥
आणि क्षरपणाचा नाथिला। आळु यया ऐसेनि आला। जे उपाधींचि आतला। म्हणौनियां ॥ ४९७॥
जैसी खळाळीचिया उदका-। सरसीं आंदोळे चंद्रिका। तैसा विकारां औपाधिका। ऐसाचि गमे ॥ ४९८॥
कां खळाळु मोटका शोषे। आणि चंद्रिका तैं सरिसींच भ्रंशे। तैसा उपाधिनाशीं न दिसे। उपाधिकु ॥ ४९९॥
ऐसें उपाधीचेनि पाडें। क्षणिकत्व यातें जोडे। तेणें खोंकरपणें घडे। क्षर हें नाम ॥ ५००॥
एवं जीवचैतन्य आघवें। हें क्षर पुरुष जाणावें। आतां रूप करूं बरवें। अक्षरासी ॥ ५०१॥
तरी अक्षरु जो दुसरा। पुरुष पैं धनुर्धरा। तो मध्यस्थु गा गिरिवरां। मेरु जैसा ॥ ५०२॥
जे तो पृथ्वी पाताळ स्वर्गीं। इहीं न भेदे तिहीं भागीं। तैसा दोहीं ज्ञानाज्ञानांगीं। पडेना जो ॥ ५०३॥

ना यथार्थज्ञानें एक होणें। ना अन्यथात्वें दुजें घेणें। ऐसें निखिळ जें नेणणें। तेंचि तें रूप ॥ ५०४॥
पांसुता निःशेष जाये। ना घटभांडादि होये। तया मृत्पिंडा ऐसें आहे। मध्यस्थ जें ॥ ५०५॥
पैं आटोनि गेलिया सागरु। मग तरंगु ना नीरु। तया ऐशी अनाकारु। जे दशा गा ॥ ५०६॥
पार्था जागणें तरी बुडे। परी स्वप्नाचें कांहीं न मांडे। तैसिये निद्रे सांगडें। न्याहाळणें जें ॥ ५०७॥
विश्व आघवेंचि मावळे। आणि आत्मबोधु तरी नुजळे। तिये अज्ञानदशे केवळे। अक्षरु नाम ॥ ५०८॥
सर्वां कळीं सांडिलें जैसें। चंद्रपण उरे अंवसे। रूप जाणावें तैसें। अक्षराचें ॥ ५०९॥
पैं सर्वोपाधिविनाशें। हे जीवदशा जेथ पैसे। फळपाकांत जैसें। झाड बीजीं ॥ ५१०॥
तैसें उपाधी उपहित। थोकोनि ठाके जेथ। तयातें अव्यक्त। बोलती गा ॥ ५११॥
घन अज्ञान सुषुप्ती। तो बीजभावो म्हणती। येर स्वप्न हन जागृती। फळभावो तयाचा ॥ ५१२॥
जयासी कां बीजभावो। वेदांतीं केला ऐसा आवो। तो तया पुरुषा ठावो। अक्षराचा ॥ ५१३॥
जेथूनि अन्यथाज्ञान। फांकोनि जागृति स्वप्न। नानाबुद्धीचें रान। रिगालें असे ॥ ५१४॥
जीवत्व जेथुनी किरीटी। विश्व उठतचि उठी। ते उभय भेदांची मिठी। अक्षरु पुरुषु ॥ ५१५॥
येरु क्षर पुरुषु कां जनीं। जिहीं खेळे जागृतीं स्वप्नीं। तिया अवस्था जो दोन्ही। वियाला गा ॥ ५१६॥
पैं अज्ञानघनसुषुप्ती। ऐसैसी जे कां ख्याती। या उणी एकी प्राप्ती। ब्रह्माची जे ॥ ५१७॥
साचचि पुढती वीरा। जरी न येतां स्वप्न जागरा। तरी ब्रह्मभावो साचोकारा। म्हणों येता ॥ ५१८॥
परी प्रकृतिपुरुषें दोनी। अभ्रें जालीं जियें गगनीं। क्षेत्रक्षेत्रज्ञु स्वप्नीं। देखिला जियें ॥ ५१९॥
हें असो अधोशाखा। या संसाररूपा रुखा। मूळ तें रूप पुरुषा। अक्षराचें ॥ ५२०॥
हा पुरुषु कां म्हणिजे। जे पूर्णपणेंचि निजें। पैं मायापुरीं पहुडिजे। तेणेंही बोलें ॥ ५२१॥
आणि विकारांची जे वारी। ते विपरीत ज्ञानाची परी। नेणिजे जिये माझारीं। ते सुषुप्ती गा हा ॥ ५२२॥
म्हणौनि यया आपैसें। क्षरणें या नसे। आणिकेंही हा न नाशे। ज्ञानाउणें ॥ ५२३॥
यालागीं हा अक्षरु। ऐसा वेदांतीं डगरु। केला देशीं थोरु। सिद्धांताच्या ॥ ५२४॥
ऐसें जीवकार्य कारण। जया मायासंगुचि लक्षण। अक्षर पुरुषु जाण। चैतन्य तें ॥ ५२५॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७॥

आतां अन्यथाज्ञानीं। या दोनी अवस्था जया जनीं। तया हरपती घनीं। अज्ञानतत्त्वीं ॥ ५२६॥
तें अज्ञान ज्ञानीं बुडालिया। ज्ञानें कीर्तिमुखत्व केलिया। जैसा वन्हि काष्ठ जाळूनियां। स्वयें जळे ॥ ५२७॥
तैसें अज्ञान ज्ञानें नेलें। आपण वस्तु देऊनि गेलें। ऐसें जाणणेंनिवीण उरलें। जाणतें जें ॥ ५२८॥
तें तो गा उत्तम पुरुषु। जो तृतीय कां निष्कर्षु। दोहींहून आणिकु। मागिला जो ॥ ५२९॥
सुषुप्तीं आणि स्वप्ना-। पासूनि बहुवें अर्जुना। जागणें जैसें आना। बोधाचेंचि ॥ ५३०॥
कां रश्मी हन मृगजळा-। पासूनि अर्कमंडळा। अफाटु तेवीं वेगळा। उत्तमु गा ॥ ५३१॥
हें ना काष्ठींचा काष्ठाहुनी। अनारिसा जैसा वन्ही। तैसा क्षराक्षरापासुनी। आनचि तो ॥ ५३२॥
पैं ग्रासूनि आपली मर्यादा। एक करीत नदीनदां। उठी कल्पांतीं उदावादा। एकार्णवाचा ॥ ५३३॥
तैसें स्वप्न ना सुषुप्ती। ना जागराची गोठी आथी। जैसी गिळिली दिवोराती। प्रळयतेजें ॥ ५३४॥
मग एकपण ना दुजें। असें नाहीं हें नेणिजे। अनुभव निर्बुजे। बुडाला जेथें ॥ ५३५॥

ऐसें आथि जें कांहीं। तें तो उत्तम पुरुषु पाहीं। जें परमात्मा इहीं। बोलिजे नामीं ॥५३६॥
तेंही एथ न मिसळतां। बोलणें जीवत्वें पंडुसुता। जैसी बुडणेयाची वार्ता। थडियेचा कीजे ॥५३७॥
तैसें विवेकाचिये कांठीं। उभें ठाकलिया किरीटी। परावराचिया गोठी। करणें वेदां ॥५३८॥
म्हणौनि पुरुषु क्षराक्षरु। दोन्ही देखोनि अवरु। यातें म्हणती परु। आत्मरूप ॥५३९॥
अर्जुना ऐसिया परी। परमात्मा शब्दवरी। सूचिजे गा अवधारीं। पुरुषोत्तमु ॥५४०॥
एऱ्हवीं न बोलणेंचि बोलणें। जेथिंचें सर्व नेणिवा जाणणें। कांहींच न होनि होणें। जे वस्तु गा ॥५४१॥
सोऽहं तेंही अस्तवलें। जेथ सांगतेंचि सांगणें जालें। द्रष्टत्वेंसी गेलें। दृश्य जेथ ॥५४२॥
आतां बिंबा आणि प्रतिबिंबा-। माजीं कैंची हें म्हणों नये प्रभा ?। जऱ्ही कैसेनि हे लाभा। जायेचि ना ॥५४३॥
कां घ्राणा फुला दोहीं। द्रुती असे जे माझारिलां ठायीं। ते न दिसे तरी नाहीं। ऐसें बोलों नये ॥५४४॥
तैसें द्रष्टा दृश्य हें जाये। मग कोण म्हणे काय आहे। हेंचि अनुभवें तेंचि पाहें। रूप तया ॥५४५॥
जो प्रकाश्येंवीण प्रकाशु। ईशितव्येंवीण ईशु। आपणेंनीचि अवकाशु। वसवीत असे जो ॥५४६॥
जो नादें ऐकिजता नादु। स्वादें चाखिजता स्वादु। जो भोगिजतसे आनंदु। आनंदेंचि ॥५४७॥
जो पूर्णतेचा परिणामु। पुरुषु गा पुरुषोत्तमु। विश्रांतीचाही विश्रामु। विराला जेथें ॥५४८॥
सुखासि सुख जोडिलें। जें तेज तेजासि सांपडलें। शून्यही बुडालें। महाशून्यीं जिये ॥५४९॥
जो विकासाहीवरी उरता। ग्रासातेंही ग्रासूनि पुरता। जो बहुतें पाडें बहुतां-। पासूनि बहु ॥५५०॥
पैं नेणतयाप्रती। रुपेपणाची प्रतीती। रुपें न होनि शुक्ती। दावी जेवीं ॥५५१॥
कां नाना अलंकारदशे। सोनें न लपत लपालें असे। विश्व न होनियां तैसें। विश्व जो धरी ॥५५२॥
हें असो जलतरंगा। नाहीं सिनानेपण जेवीं गा। तेवीं दिसता प्रकाशु जगा। आपणचि जो ॥५५३॥
आपुलिया संकोचविकाशा। आपणचि रूप वीरेशा। हा जळीं चंद्र हन जैसा। समग्र गा ॥५५४॥
तैसा विश्वपणें कांहीं होये। विश्वलोपीं कहीं न जाये। जैसा रात्रीं दिवसें नोहे। द्विधा रवि ॥५५५॥
तैसा कांहींचि कोणीकडे। कायिसेनिहि वेंचीं न पडे। जयाचें सांगडें। जयासीचि ॥५५६॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

जो आपणपेंचि आपणया। प्रकाशीतसे धनंजया। काय बहु बोलों जया। नाहीं दुजें ॥५५७॥
तो गा मी निरुपाधिकु। क्षराक्षरोत्तमु एकु। म्हणौनि म्हणे वेद लोकु। पुरुषोत्तमु ॥५५८॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

परी हें असो ऐसिया। मज पुरुषोत्तमातें धनंजया। जाणे जो पाहलेया। ज्ञानमित्रें ॥५५९॥
चेइलिया आपुलें ज्ञान। जैसें नाहींचि होय स्वप्न। तैसें स्फुरतें त्रिभुवन। वावों जालें ॥५६०॥
कां हातीं घेतलिया माळा। फिटे सर्पाभासाचा कांटाळा। तैसा माझेनि बोधें टवाळा। नागवे तो ॥५६१॥
लेणें सोनेंचि जो जाणें। तो लेणेंपण तें वावो म्हणे। तेवीं मी जाणोनि जेणें। वाळिला भेदु ॥५६२॥
मग म्हणे सर्वत्र सच्चिदानंदु। मीचि एकु स्वतःसिद्धु। जो आपणेनसीं भेदु। नेणोनियां जाणे ॥५६३॥

तेणेंचि सर्व जाणितलें। हेंही म्हणणें थेंकुलें। जे तया सर्व उरलें। द्वैत नाहीं ॥ ५६४॥
म्हणौनि माझिया भजना। उचितु तोचि अर्जुना। गगन जैसें आलिंगना। गगनाचिया ॥ ५६५॥
क्षीरसागरा परगुणें। कीजे क्षीरसागरचिपणें। अमृतचि होऊनि मिळणें। अमृतीं जेवीं ॥ ५६६॥
साडेपंधरा मिसळावें। तैं साडेपंधरेंचि होआवें। तेवीं मी जालिया संभवे। भक्ति माझी ॥ ५६७॥
हां गा सिंधूसि आनी होती। तरी गंगा कैसेनि मिळती ?। म्हणौनि मी न होतां भक्ती। अन्वयो आहे ? ॥ ५६८॥
ऐसियालागीं सर्व प्रकारीं। जैसा कल्लोळु अनन्यु सागरीं। तैसा मातें अवधारीं। भजिन्नला जो ॥ ५६९॥
सूर्या आणि प्रभे। एकवंकी जेणें लोभें। तो पाडु मानूं लाभे। भजना तया ॥ ५७०॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥ २०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तम योगोनाम पंचदशोऽध्यायः ॥ १५अ ॥

एवं कथिलयादारभ्य। हें जें सर्व शास्त्रैकलभ्य। उपनिषदां सौरभ्य। कमळदळां जेवीं ॥ ५७१॥
हें शब्दब्रह्माचें मथितें। श्रीव्यासप्रज्ञेचेंनि हातें। मथुनि काढिलें आयितें। सार आम्हीं ॥ ५७२॥
जे ज्ञानामृताची जाह्नवी। जे आनंदचंद्रींची सतरावी। विचारक्षीरार्णवींची नवी। लक्ष्मी जे हे ॥ ५७३॥
म्हणौनि आपुलेनि पदें वर्णें। अर्थाचेनि जीवेंप्राणें। मीवांचोनि हों नेणें। आन कांहीं ॥ ५७४॥
क्षराक्षरत्वें समोर जालें। तयांचें पुरुषत्व वाळिलें। मग सर्वस्व मज दिधलें। पुरुषोत्तमीं ॥ ५७५॥
म्हणौनि जगीं गीता। मियां आत्मेनि पतिव्रता। जे हे प्रस्तुत तुवां आतां। आकर्णिली ॥ ५७६॥
साचचि बोलाचें नव्हे हें शास्त्र। पैं संसारु जिणतें हें शस्त्र। आत्मा अवतरविते मंत्र। अक्षरें इयें ॥ ५७७॥
परी तुजपुढां सांगितलें। तें अर्जुना ऐसें जालें। जें गौप्यधन काढिलें। माझें आजि ॥ ५७८॥
मज चैतन्यशंभूचा माथां। जो निक्षेपु होता पार्था। तया गौतमु जालासि आस्था-। निधी तूं गा ॥ ५७९॥
चोखटिवा आपुलिया। पुढिला उगाणा घेयावया। तया दर्पणाचीचि परी धनंजया। केली आम्हां ॥ ५८०॥
कां भरलें चंद्रतारांगणीं। नभ सिंधू आपणयामाजीं आणी। तैसा गीतेसीं मी अंतःकरणीं। सूदला तुवां ॥ ५८१॥
जे त्रिविधमळिकटा। तूं सांडिलासि सुभटा। म्हणौनि गीतेसीं मज वसौटा। जालासि गा ॥ ५८२॥
परी हें बोलों काय गीता। जे हे माझी उन्मेषलता। जाणे तो समस्ता। मोहा मुके ॥ ५८३॥
सेविली अमृतसरिता। रोगु दवडूनि पंडुसुता। अमरपण उचितां। देऊनि घाली ॥ ५८४॥
तैसी गीता हे जाणितलिया। काय विस्मयो मोह जावया। परी आत्मज्ञानें आपणापयां। मिळिजे येथ ॥ ५८५॥
जया आत्मज्ञानाच्या ठायीं। कर्म आपुलेया जीविता पाहीं। होऊनियां उतराई। लया जाय ॥ ५८६॥
हरपलें दाऊनि जैसा। मागु सरे वीरविलासा। ज्ञानचि कळस वळघे तैसा। कर्मप्रासादाचा ॥ ५८७॥
म्हणौनि ज्ञानिया पुरुषा। कृत्य करूं सरलें देखा। ऐसा अनाथांचा सखा। बोलिला तो ॥ ५८८॥
तें श्रीकृष्णवचनामृत। पार्थीं भरोनि असे वोसंडत। मग व्यासकृपा प्राप्त। संजयासी ॥ ५८९॥
तो धृतराष्ट्र राया। सूतसे पान करावया। म्हणौनि जीवितांतु तया। नोहेचि भारी ॥ ५९०॥
एऱ्हवीं गीताश्रवण अवसरीं। आवडों लागतां अनधिकारी। परि सेखीं तेचि उजरी। पातला भली ॥ ५९१॥

जेव्हां द्राक्षीं दूध घातलें। तेव्हां वायां गेलें गमलें। परी फळपाकीं दुणावलें। देखिजे जेवीं ॥ ५९२॥
तैसी श्रीहरीवक्त्रींचीं अक्षरें। संजयें सांगितलीं आदरें। तिहीं अंधु तोही अवसरें। सुखिया जाला ॥ ५९३॥
तेंचि मऱ्हाटेनि विन्यासें। मियां उन्मेषें ठसेंठोंबसें। जी जाणें नेणें तैसें। निरोपिलें ॥ ५९४॥
सेवंतीये अरिसि कांहीं। आंग पाहतां विशेषु नाहीं। परी सौरभ्य नेलें तिहीं। भ्रमरीं जाणिजे ॥ ५९५॥
तैसें घडतें प्रमेय घेइजे। उणें तें मज देइजे। जें नेणणें हेंचि सहजें। रूप कीं बाळा ॥ ५९६॥
तरी नेणतें जऱ्ही होये। तऱ्ही देखोनि बाप कीं माये। हर्ष केंहि न समाये। चोज करिती ॥ ५९७॥
तैसें संत माहेर माझें। तुम्ही मिनलिया मी लाडैजें। तेंचि ग्रंथाचेनि व्याजें। जाणिजो जी ॥ ५९८॥
आतां विश्वात्मकु हा माझा। स्वामी श्रीनिवृत्तिराजा। तो अवधारू वाक्पूजा। ज्ञानदेवो म्हणे ॥ ५९९॥
इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां पंचदशोऽध्यायः ॥

Encoded and proofread by
Chhaya Deo, Sharad Deo, and Vishwas Bhide.
Assisted by
Sunder Hattangadi, Joshi, and Shree Devi Kumar.

Please send corrections to sanskrit@cheerful.com
Last updated November 23, 2008